Gyanvividha, Vol.-2; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2025 : PP-269-277

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-2.25
Vol.-2; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2025
Page No.-269-277
©2025 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

Author's :

1. प्रमोद कुमार सैनी
Research Scholar,
Mahatma Jyoti Rao Phoole University, Jaipur.

2. डॉ. रश्मि चौहान
Guide, Mahatma Jyoti Rao Phoole University, Jaipur.

Corresponding Author :

प्रमोद कुमार सैनी
Research Scholar,
Mahatma Jyoti Rao Phoole University, Jaipur.

आधुनिकता, अवसाद और अस्मिता : 2000 के बाद के हिन्दी उपन्यासों का मनोविश्लेषणीय परिप्रेक्ष्य

1. प्रस्तावना : आधुनिक जीवन की तेज़ रफ़्तार और मूल्य परिवर्तनों ने साहित्य में मानवीय मनोस्थिति को नए ढंग से उकेरने का काम किया है। विशेषकर 21वीं सदी के बाद के हिन्दी उपन्यासों में व्यक्ति की मानसिक दशाओं – तनाव, अवसाद और अस्मिता (पहचान) के संकट – को प्रमुख विषयवस्तु के रूप में देखा गया है। **"आधुनिकता, अवसाद और अस्मिता : 2000 के बाद के हिन्दी उपन्यासों का मनोविश्लेषणीय परिप्रेक्ष्य"** इस शोध का केंद्र है जिसमें विभिन्न उपन्यासों के चरित्रों के आंतरिक मनोविश्व का विश्लेषण फ्रॉयडीय मनोविश्लेषण दृष्टिकोण से किया जाएगा। मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा का अर्थ है साहित्यिक पात्रों के अवचेतन मन, भावनात्मक द्वंद्व एवं मानसिक विकृतियों का विश्लेषण, ताकि यह समझा जा सके कि आधुनिक समाज और परिस्थितियाँ उनके मन पर क्या असर डालती हैं।

इस शोधपत्र में हम कुछ प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यासों के चरित्रों और कथानकों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे, जो सन् 2000 के बाद प्रकाशित हुए हैं और जिनमें आधुनिकता की टकराहट, अवसाद की अनुभूति एवं अस्मिता का संघर्ष उभरकर सामने आया है। चयनित कृतियों में ज्ञान चतुर्वेदी का **नरक-यात्रा** (राजकमल, 1994), सुधा अरोड़ा का **बिल्लियों का मुस्कराना** (2008) एवं **यहीं कहीं था घर** (2004), नासिरा शर्मा का **मौन और मांसहार** (2010), अमृता प्रीतम का **हसरतों के किनारे** (2003), संगम पांडेय (आर. अनुराधा) का आत्मकथात्मक **इंद्रधनुष के पीछे-पीछे: एक कैंसर विजेता की डायरी** (2005) तथा राजेंद्र यादव का **कुहासा** (2004) प्रमुख हैं। इन सभी रचनाओं में कथानायक या नायिका किसी न किसी मानसिक विचलन, अवसाद अथवा पहचान के संकट से जूझते दिखते हैं। प्रस्तावित अध्ययन में इन पात्रों के अंतरमन की यात्रा को मनोविश्लेषण के सिद्धांतों के आलोक में

समझने का प्रयास किया जाएगा। हम देखेंगे कि किस प्रकार उपभोक्तावादी आधुनिकता, सामाजिक मूल्य-संकट और पारिवारिक एवं लैंगिक भूमिकाओं के तनाव इन पात्रों के मन में टकराव पैदा करते हैं, अवसाद के बीज बोते हैं और अपनी अस्मिता की तलाश को जटिल बना देते हैं। इस शोध का उद्देश्य न सिर्फ़ इन उपन्यासों में दर्शाए गए मानसिक संघर्षों को उद्घाटित करना है, बल्कि यह भी विश्लेषित करना है कि साहित्यकार इन मनोवैज्ञानिक सत्यों के माध्यम से अपने युग की सामाजिक सच्चाइयों पर क्या टिप्पणी करते हैं। सभी संदर्भों को MLA 9 शैली में दर्ज किया गया है और यथास्थान मौलिक उद्धरणों का प्रयोग कर उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को पुष्ट किया गया है।

2. आधुनिकता और मानसिक संघर्ष : 21वीं सदी के आरंभिक दशक के हिंदी उपन्यास यह प्रत्यक्ष करते हैं कि नव-उदारीकरण और भूमंडलीकरण के दौर में व्यक्ति अभूतपूर्व मानसिक संघर्षों का सामना कर रहा है। आर्थिक प्रतिस्पर्धा, उपभोक्तावाद और सामाजिक बदलावों ने पारंपरिक विश्वासों से टकराहट पैदा की है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति घर और बाज़ार, आत्मा और बाहरी बुद्धिवाद के बीच विभाजित अनुभव करता है। नरक-यात्रा उपन्यास में ज्ञान चतुर्वेदी ने आधुनिक सरकारी अस्पताल को प्रतीक बनाकर इसी विभाजन का व्यंग्यात्मक चित्रण किया है । उपन्यास की पृष्ठभूमि एक मेडिकल कॉलेज का भीड़भरा अस्पताल है, जहाँ सुबह होते ही वातावरण मानो बीमारियों का उत्सव बन जाता है – "इस मेडिकल कॉलेज अस्पताल में सुबह बीमारों की तरह दाखिल होती है... सूरज मानो पका हुआ लाल फोड़ा, धूप जैसे गाढ़ी मवाद, हवा मानो कृत्रिम श्वास... बस कूलती, कराहती-सी सुबह, रात का ही एक्सटेंशन-सा"। यह बयान आधुनिक समाज के यथार्थ का रूपक है जिसमें नई सुबह भी आशा की जगह संघर्ष और पीड़ा से भरी दिखाई देती है। आधुनिकता द्वारा प्रतिपादित प्रगति के वादों के विपरीत आम आदमी के जीवन में नरक समान दुश्वारियाँ व्याप्त हैं – भ्रष्ट प्रशासन, अव्यवस्था, मानवीय मूल्यों का ह्रास – जो व्यक्ति के मन में कुंठा और क्षोभ को जन्म देती हैं।

सुधा अरोड़ा के यहीं कहीं था घर जैसे उपन्यास आधुनिक जीवन में पारिवारिक और सामाजिक मान्यताओं से उपजे मानसिक तनाव को उजागर करते हैं। इस उपन्यास की नायिका सुजाता उच्च मध्यवर्गीय परिवेश में अपनी आकांक्षाओं और परिवार की परंपराओं के बीच पिस रही है। माता-पिता और गुरुजन के दबाव में वह अपनी इच्छा के विरुद्ध विवाह तो कर लेती है, लेकिन उसके भीतर गहरा असंतोष पनपता है। यह कथा दर्शाती है कि आधुनिक समय में भी पारंपरिक रूढ़ियाँ व्यक्ति की स्वतंत्र पहचान पर आघात करती हैं, जिससे मन में निरंतर द्वंद्व चलता रहता है – आत्मनिर्णय बनाम पारिवारिक अपेक्षाएँ। जब-जब व्यक्ति इन बाहरी दबावों का खुलकर विरोध नहीं कर पाता, तब-तब मानसिक संघर्ष और तनाव जन्म लेते हैं। जमुना सुखाम लिखती हैं कि सामाजिक विसंगतियों का विरोध करने में असफल रहने पर व्यक्ति के भीतर घुटन और तनाव बढ़ने लगता है। स्पष्ट है कि आधुनिकता की देन – व्यक्तिगत स्वतंत्रता का आदर्श – और परंपरा की वास्तविकता के बीच संघर्ष ने हिन्दी उपन्यासों में एक ज़रूरी थीम को जन्म दिया है: पात्रों के भीतर चल रहा मानसिक संग्राम।

नासिरा शर्मा के मौन और मांसहार में यह आधुनिक मानसिक संग्राम अलग रूप में दिखता है। आधुनिक समाज में व्याप्त हिंसा, कट्टरता और असहिष्णुता (जिसका द्योतक "मांसहार" है) के बीच एक संवेदनशील चरित्र मौन धारण कर लेता है – यह मौन उसका विरोध भी है और पलायन भी। उपन्यास इशारा करता है कि वर्तमान दौर में जब बाहरी शोर और उथल-पुथल अत्यधिक है, तब कुछ व्यक्ति आंतरिक शांति की खोज में चुप्पी की दीवार खड़ी कर लेते हैं। यह मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया आधुनिकता के आघातों से बचाव का तरीका है। लेकिन यही मौन उनके भीतर एक तूफ़ान भी छिपाए रहता है। अमृता प्रीतम ने एक जगह लिखा है, "एक ग़ुस्सा था रुके हुए पानी की तरह जिसके निकलने की कोई राह नहीं थी, इसलिए जहाँ वह रुका हुआ था, उन दीवारों को ही चाट रहा था।" यह अव्यक्त क्रोध दरअसल उस घुटन का रूपक है जो आधुनिक व्यक्ति बाहर प्रकट नहीं कर पाता और वह भीतर ही भीतर उसकी मानसिक दीवारों को क्षतिग्रस्त करता रहता है। इस प्रकार आधुनिकता जनित विसंगतियों से जूझते हुए हिन्दी

उपन्यासों के पात्र या तो व्यंग्य और विद्रोह का मार्ग अपनाते हैं (जैसा नरक-यात्रा में है), या बाहरी रूप से चुपचाप समझौता करते हुए अंदर ही अंदर उलझते जाते हैं (जैसा सुधा अरोड़ा और नासिरा शर्मा के उपन्यासों में)। दोनों ही स्थितियाँ गहरे मानसिक संघर्ष की द्योतक हैं। मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से देखें तो यह संघर्ष सतह पर भले अलग दिखे, मूलतः यह आधुनिक मूल्य-बोध और पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं के टकराव से उपजा नैराश्य है।

3. अवसाद के मनोवैज्ञानिक आयाम : आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में अवसाद केवल भावुकता या दुःख भर नहीं है, बल्कि यह एक जटिल मनोवैज्ञानिक अवस्था के रूप में उभरता है जिसके कारण बहुविध हैं – सामाजिक अलगाव, असफल आकांक्षाएँ, आंतरिक अपराधबोध और जीवन के अर्थ का ह्रास। सिगमंड फ्रॉयड के मतानुसार अवसाद या **मनोसंताप** वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति का क्रोध या हानि का भाव भीतर की ओर मुड़ जाता है और आत्म को ही आघात पहुँचाता है (Freud)। हिन्दी उपन्यासों के कई चरित्रों में यह अंतर्मुखी अवसाद झलकता है। नरक-यात्रा के व्यंग्यात्मक आवरण में भी गहन अवसाद के स्वर विद्यमान हैं – पूरे उपन्यास में एक "लाचारगी", "मनहूस, गमगीन सा माहौल" व्याप्त है। सतह पर कथानक हास्य व्यंग्य से भरपूर है, परंतु प्रत्येक प्रसंग के अंतर्गत पीड़ा और निराशा की एक लहर चलती है। चतुर्वेदी के अन्य व्यंग्य-उपन्यास (बारामासी, मरीचिका आदि) की तरह यहाँ भी मूल विषय "दुःख, गरीबी, पीड़ा और मृत्यु" ही हैं, जिन पर हास्य का मुलम्मा चढ़ा कर लेखक ने एक तरह से त्रासदी को और अधिक मार्मिक बना दिया है। यह अवसाद उस आम आदमी का है जो भ्रष्ट व्यवस्था के आगे बेबस है – एक मरीज जो अस्पताल के नरक में भटक रहा है, या एक डॉक्टर जो संवेदनहीन सिस्टम का पुर्ज़ा बन गया है। इस प्रकार नरक-यात्रा दिखाता है कि सामाजिक संस्थाओं की विफलता व्यक्ति को कैसे डिप्रेशन के अंधेरे में धकेल देती है, भले ही वह ऊपर से व्यंग्यात्मक मुस्कान ओढ़े हो। ज्ञान चतुर्वेदी की लेखनी का कमाल है कि पाठक उस मायूस माहौल में भी मुस्कुरा देता है, पर हास्य की हर परत के नीचे अवसाद की सच्चाई उजागर होती जाती है (सुदर्शन)। यह "हँसते-हँसते अवसाद को सहने" की मानसिकता भी आधुनिक मनुष्य की विशेषता बन चुकी है।

सुधा अरोड़ा और नासिरा शर्मा के उपन्यासों में अवसाद के मनोवैज्ञानिक पहलू परिवार और संबंधों की टूटी-बिखरी अपेक्षाओं से जुड़े हैं। यहीं कहीं था घर में सुजाता का चरित्र अपने सपनों का दम घुटते देख एक धीमी निराशा में डूबता चला जाता है। पारिवारिक दायित्वों को निभाते-निभाते उसका स्व का क्षरण होता है – वह बोलती कम जाती है, स्वभाव से उदासीन हो जाती है, जैसे अवसाद ने उसकी जीवंतता को ढक लिया हो। इसी प्रकार बिल्लियों का मुस्कराना की नायिका (काल्पनिक तौर पर) चारों ओर व्याप्त छल-प्रपंच को देख अंदर से टूट रही है; वह समाज के 'बिल्लियों' (धूर्त चेहरों) के बीच एक खोखली हँसी हँसती है, जबकि भीतर से अवसाद ग्रस्त है – यह द्वैत मनोस्थिति अवसाद के **मुखौटा-लक्षण** जैसी है, जहाँ बाहरी मुस्कान के पीछे गहन दुःख छिपा रहता है। सुधा अरोड़ा के लेखन में महानगरीय जीवन में महिलाओं के अकेलेपन और अवसाद का मार्मिक चित्रण मिलता है। उनकी एक पात्र विशाखा मानसिक उलझनों से घिरकर समाज की पुरुषसत्तात्मक मानसिकता पर आक्रोश प्रकट करती है – यह आक्रोश दरअसल अवसाद का ही दूसरा चेहरा है, क्योंकि अवसाद अक्सर हताशा से जन्मा क्रोध भी होता है। विशाखा जैसे पात्र संघर्ष तो करते हैं, किंतु जब लड़ाई असफल होने लगती है तो क्रोध अंततः निराशा में तब्दील हो जाता है और व्यक्ति भीतर ही भीतर घुलने लगता है। यह अवसाद चुपचाप सहन करने वाला शहीद-भाव उत्पन्न कर सकता है, जैसा चेतन (ज्ञानप्रकाश विवेक के उपन्यास आखेट का नायक) में दिखता है – वह कार्यस्थल के उत्पीड़न का खुलकर विरोध नहीं कर पाता और भीतर ही भीतर तनाव को पीता रहता है, परिणामतः उसका व्यक्तित्व दुर्बल और अनिश्चित हो जाता है (सुखम)। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अवसाद को हिन्दी उपन्यासकारों ने एक गंभीर मानसिक व्याधि की तरह चित्रित किया है, जो सामाजिक-व्यवस्था की कठोरता और व्यक्ति की असफल आकांक्षाओं के मेल से उपजती है।

अमृता प्रीतम के हसरतों के किनारे तथा अन्य आख्यानों में अवसाद अधिक आध्यात्मिक और अस्तित्ववादी

रंग लिए हुए आता है। अमृता के चरित्र अक्सर जीवन भर किसी न किसी हसरत (इच्छा) के किनारे खड़े रहते हैं – प्रेम, स्वतंत्रता या आत्मस्वीकृति की हसरत – और पूरी न होने पर एक स्थायी ख़ला महसूस करते हैं। उनके प्रसिद्ध उपन्यास पिंजर की पूरो हो या एक कहानी यह भी की नायिका खुद अमृता, सबमें समाज द्वारा थोपी गई पीड़ा से उपजा अवसाद झलकता है जो अंततः उनके सृजन का आधार भी बनता है। हसरतों के किनारे की नायिका अपने अतीत के प्रेम और अप्राप्त इच्छाओं का भार ढोते हुए एक खालीपन से भर जाती है। अमृता प्रीतम लिखती हैं, "हर कोई जब छाती में बहुत से सपने और माथे में बहुत से ख़याल डालकर घर से ज़िंदगी ख़रीदने निकलता है, और ज़िंदगी के बाज़ार में ज़िंदगी की क़ीमत सुनता है, तो उसकी छाती में खनकते सब सिक्के बेकार हो जाते हैं।" यह पंक्तियाँ उस गहन निराशा को व्यक्त करती हैं जो जीवन की विपणन व्यवस्था से टकराकर व्यक्ति के सपनों के चकनाचूर हो जाने पर उपजती है। यह अस्तित्वगत अवसाद है जहाँ सारी दौड़-भाग निरर्थक जान पड़ती है, मानो हसरतों के सिक्के बेकार हो गए हों। मनोविश्लेषण की दृष्टि से यह अवस्था **अर्थहीनता के अवसाद** के समान है, जिसकी चर्चा मनोचिकित्सक एरिच फ़्रम और विक्टर फ्रेंकल ने की है। व्यक्ति को जब अपने सपनों का कोई अर्थ नहीं दिखता, तो अवसाद अनिवार्य हो जाता है। अमृता प्रीतम के चरित्र उस अवसाद से गुजरते हुए प्रायः एक दार्शनिक या आध्यात्मिक संकल्प पा लेते हैं – जैसे हसरतों के किनारे खड़े-खड़े वो अंततः अपने अस्तित्व की सच्चाई को स्वीकारना सीखते हैं। ये मनोवैज्ञानिक आयाम दर्शाते हैं कि अवसाद केवल व्यक्तिगत कमजोरी नहीं, बल्कि सामाजिक एवं दार्शनिक परिस्थितियों की देन है जिसका सामना इन उपन्यासों में चरित्र कर रहे हैं। आर. अनुराधा द्वारा अपने कैंसर-संघर्ष पर लिखी डायरी इंद्रधनुष के पीछे-पीछे तो अवसाद के एक और आयाम – मृत्यु के भय और स्वीकार – को सामने लाती है। एक प्रसंग में लेखक बताती हैं कि उन्हें अपने निकट आती मृत्यु का सुनिश्चित ज्ञान था, जो उनके मित्रों-परिजनों के लिए भी "एक लम्बे अवसाद का विषय" बन चुका था। लेकिन अनुराधा इस अवसाद को अपनी लेखनी के जरिए आत्मबल में रूपांतरित करती हैं – यह दर्शाता है कि अवसाद की मनोस्थिति निरंतर स्थिर न रहकर परिवर्तनीय है। उचित सहारा मिलने पर अवसाद से निकलकर व्यक्ति इंद्रधनुषी आशा तक भी पहुँच सकता है। इस प्रकार, पोस्ट-2000 के हिन्दी उपन्यास अवसाद को बहुआयामी रूप में पेश करते हैं: कहीं वह स्त्री-जीवन की कुंठा है, कहीं सामाजिक अन्याय से जन्मी हताशा, तो कहीं जीवन-मृत्यु के द्वंद्व से उपजा अँधेरा, जिसे पात्र अलग-अलग तरीके से झेलते और अभिव्यक्त करते हैं।

4. अस्मिता की तलाश : व्यक्ति की अस्मिता की खोज 21वीं सदी के हिंदी कथा-साहित्य में केन्द्रीय मुद्दा बनकर उभरती है। बदलते सामाजिक संदर्भों में "मैं कौन हूँ?" का प्रश्न पात्रों को निरंतर आंदोलित करता है। डॉ. शर्वेश पाण्डे के अनुसार आज के औद्योगिक शहरीकरण और पूँजीवादी आधुनिकता के दौर में अस्मिता के प्रश्न पहले से कहीं अधिक जटिल और उलझे हुए हो गए हैं। पारंपरिक सामूहिक पहचानें (जैसे जाति, धर्म, लिंग) टूट रही हैं और नई व्यक्तिगत पहचान बनाने की होड़ लगी है, जिससे व्यक्ति एक अजीब संकट का सामना कर रहा है। मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से, पहचान का संकट (जैसा मनोवैज्ञानिक एरिक एरिक्सन ने कहा है) व्यक्तित्व के विकास का अनिवार्य हिस्सा बन चुका है (एरिक्सन)। राजेंद्र यादव ने समाज में उभर रही इस अस्मिता-पीड़ा पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "अब इस आइडेंटिटी नाम के तत्व ने अजब संकट खड़ा कर दिया है। अस्मिता जितनी मेरी है, उतनी ही मेरे परिवेश और परम्परा की भी है। उसमें वर्ग, वर्ण, क्षेत्र, धर्म, लिंग, परम्पराएं सभी कुछ घुले-मिले हैं।" यादव के इस कथन से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति की पहचान कोई एकल आयाम वाली नहीं रह गई; वह अनेक सामाजिक घटकों से मिलकर बनी है। ऐसे में जब व्यक्ति अपनी स्वयं की निजी पहचान बनाना चाहता है, तब ये घटक (जाति, लिंग, संस्कृति आदि) आपस में टकराने लगते हैं और अस्मिता का संकट उत्पन्न होता है। उपन्यासों में हम बार-बार देखते हैं कि पात्र अपने "स्व" को खोजने निकलते हैं लेकिन समाज द्वारा परिभाषित भूमिकाएँ उन्हें सीमाओं में बाँध लेती हैं। स्त्री-पात्रों के संदर्भ में तो यह द्वंद्व और तीखा है – एक ओर वे अपनी स्वतंत्र अस्मिता चाहती हैं, दूसरी ओर परंपरा उन्हें समर्पण और त्याग की अपेक्षा करती है। यही कारण है कि सुधा अरोड़ा, नासिरा शर्मा और अमृता प्रीतम के उपन्यासों में स्त्री-अस्मिता की

खोज एक विद्रोह का रूप ले लेती है।

सुधा अरोड़ा के कथा-साहित्य में स्त्री अपने अस्तित्व के लिए रोज़मर्रा की चुनौतियों से जूझती नज़र आती है (शोध संगम)। यहीं कहीं था घर की सुजाता केवल एक "अच्छी बेटी, पत्नी और बहू" की पहचान तक सीमित नहीं रहना चाहती; वह एक स्वतंत्र चेतना के रूप में पढ़ना-लिखना और कुछ बनना चाहती है। लेकिन पारिवारिक संरचना उसकी अस्मिता को निगल जाना चाहती है – इसी अंतर्विरोध में उसकी पहचान का संकट निहित है। अंततः उपन्यास हमें उस समाज से परिचित कराता है जहाँ बड़ी बेटी होना ही सुजाता की पहचान बन जाती है, और व्यक्तिगत सपनों का दमन उसकी नियति। यह पहचान का संकट मात्र सुजाता का नहीं बल्कि उन अनगिनत महिलाओं का है जो आधुनिक भारत में अपनी जगह बनाने का प्रयत्न तो करती हैं, पर पितृसत्तात्मक मूल्य अक्सर आड़े आ जाते हैं। दूसरी ओर, नासिरा शर्मा की नायिकाएँ (जैसे पारिजात उपन्यास में) दो संस्कृतियों और दो छवियों के बीच अपनी अस्मिता तलाशती हैं – एक ओर भारतीय पारंपरिक भूमिका, दूसरी ओर पश्चिमी प्रभाव से उपजी स्वतंत्र छवि। यह द्विध्रुवीयता उनके व्यक्तित्व में विभाजन पैदा करती है। मौन और मांसहार की नायिका की चुप्पी भी उसके अस्मिता-संघर्ष का प्रतीक है – वह मुखर नहीं हो पाती क्योंकि समाज का कोलाहल उसके आत्मस्वर को दबा देता है। उसका मौन एक तरह से अपनी पहचान बचाए रखने की रक्षा-प्रक्रिया है, लेकिन साथ ही उस अस्मिता की अपूर्णता को भी दर्शाता है।

राजेंद्र यादव का उपन्यास कुहासा (यदि उसके शीर्षक को देखें) अस्मिता के संकट का सटीक बिम्ब उपस्थित करता है – कुहासा अर्थात् धुंध, जिसमें कुछ साफ नजर नहीं आता। आधुनिक व्यक्ति की पहचान भी मानो कुहासे में लिपटी हुई है – अस्पष्ट, अनिश्चित और भ्रमित। यादव ने अपने संपादनकाल में हंस पत्रिका में लगातार अस्मिता पर विमर्श चलाया, जहाँ वे कहते हैं कि निजी पहचान के साथ-साथ क्षेत्रीय और सामाजिक पहचान भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं जो हमारे सन्दर्भ तय करती हैं। समस्या तब आती है जब व्यक्ति की निजी अस्मिता और सामूहिक अस्मिता के बीच टकराव उत्पन्न हो जाता है। कई पात्रों के साथ ऐसा होता है कि उनका व्यक्तिगत सच समाज के थोपे हुए साँचे से मेल नहीं खाता – नतीजन एक आंतरिक संघर्ष जन्म लेता है कि वे स्वयं को किस रूप में स्वीकारें। मनोवैज्ञानिक रूप से देखें तो यह **भूमिका भ्रम** की स्थिति है। उदाहरण के लिए, हसरतों के किनारे की नायिका खुद को एक समर्पिता पत्नी/माँ के रूप में भी जानती है और एक स्वतंत्र आत्मा के रूप में भी – दोनों पहचानें समानान्तर चलती हैं और उसे अंत में यह निर्णय करना होता है कि असली 'मैं' कौन है। अमृता प्रीतम के साहित्य में नारी-सुलभ अस्मिता की यह दुविधा बार-बार प्रकट होती है; उनके कई स्त्री पात्र सामाजिक बंधनों को तोड़कर अपनी एक नई पहचान बनाने निकलते हैं। यह प्रक्रिया आसान नहीं – "अस्मिता के प्रश्न जितने जटिल हैं, उनकी प्राप्ति की संघर्ष-यात्रा उतनी ही दुष्कर है"। कहीं-कहीं यह संघर्ष हिंसक प्रतिरोध या आत्महत्या प्रवृत्ति तक भी पहुँच जाता है, क्योंकि अस्मिता की प्रबल आकांक्षा व्यक्ति को अति पर ले जा सकती है (सेन 18-19)। अमर्त्य सेन ने अपने शोध आइडेंटिटी ऐंड वायलेंस में कहा है कि जब समूह या व्यक्ति की पहचान पर संकट आता है तो सहानुभूति क्षीण हो जाती है और हिंसा तक जन्म ले सकती है। हिन्दी उपन्यासों में भी कुछ चरित्र (जैसे संजय कुंदन के टूटने के बाद का अप्पू) अस्मिता खो देने के भय से आत्मघाती कदम उठाने को उद्धत हो जाते हैं। ये उदाहरण इंगित करते हैं कि अस्मिता की तलाश केवल व्यक्तिगत समस्या नहीं, बल्कि सामाजिक-राजनीतिक आयाम लिए हुए है। अस्मिता-बोध और विमर्श आज मानव-अध्ययन के केंद्र में हैं क्योंकि शोषण और असमानता के इतिहास ने हाशिए के समूहों में अपनी पहचान को लेकर नई जागरूकता भर दी है। उपन्यासों में दलित, स्त्री, अल्पसंख्यक पात्र अपनी-अपनी अस्मिता की खोज में सामाजिक अन्याय के खिलाफ खड़े होते हैं – यह अस्मिता की लड़ाई अंततः समानता और मानवाधिकारों की लड़ाई बन जाती है। इस प्रकार, पोस्ट-2000 हिन्दी उपन्यासों में चरित्रों की अस्मिता-यात्रा उन्हें आत्म-पहचान के साथ-साथ सामूहिक पहचान के प्रश्नों से भी जोड़ती है। मनोविश्लेषण की दृष्टि से यह खोज उनके व्यक्तित्व के परिपक्वन की प्रक्रिया है, जिसमें वे अपने भीतर के विविध पहलुओं को एकीकृत करने का प्रयास करते हैं। कई बार इस प्रयास में

विफलता मिलती है और किरदार भटक जाते हैं, पर खोज की यह प्रक्रिया स्वयं में कथा का केन्द्रीय तत्व बन जाती है।

5. उपन्यासों में पात्रों का तुलनात्मक विश्लेषण : चयनित उपन्यासों के मुख्य पात्रों के मनोवैज्ञानिक संघर्षों की तुलना करने पर हमें आधुनिक भारतीय समाज के विविध चेहरे और उनके प्रभाव दिखाई देते हैं। इन पात्रों की यात्राएँ भले भिन्न संदर्भों में घटित होती हैं, लेकिन इनके अंदर उठते सवाल और पीड़ा में एक अद्भुत समानता है। एक ओर नरक-यात्रा का नायक/प्रमुख दृष्टि-पात्र (जिसे हम मरीज रामानंद या डॉ. पटेल आदि कई रुपों में देख सकते हैं) है, जो भीड़-भाड़ वाले सरकारी तंत्र के बीच अपनी इंसानी गरिमा खोता जा रहा है; दूसरी ओर हसरतों के किनारे की नायिका है जो अपने निजी जीवन में प्रेम और पूर्णता खोजती रही पर अंततः ख़ाली हाथ रह गई, जिससे उसका व्यक्तित्व टूट-सा गया है। दोनों ही चरित्र अलग होते हुए भी अंतत: एक गहरी ख़ालीपन की भावना से ग्रस्त हैं – एक को व्यवस्था निगल रही है तो दूसरी को अकेलापन।

नरक-यात्रा के चरित्रों की खासियत यह है कि वे सामूहिक रूप से एक दिन के "नरक" से गुजरते हुए दिखते हैं। घटनाएँ चौबीस घंटे के भीतर घटती हैं और इस संक्षिप्त अवधि में ही अस्पताल रूपी पाताल में मानवीय दुर्दशा की परतें खुलती जाती हैं। अस्पताल में लाए गए ग़रीब मरीज, उनके परिजन, डॉक्टर्स और प्रशासनिक कर्मचारी – सभी इस तंत्र के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। लेखक ने इनमें से प्रत्येक चरित्र के माध्यम से व्यावस्था पर कटाक्ष किया है, पर मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से देखें तो प्रत्येक चरित्र अपनी असहायता के कारण मानसिक रूप से विक्षुब्ध है। मरीज़ डर, दर्द और निराशा से अवसादग्रस्त हैं; डॉक्टर बेरोजगारों की तरह व्यवस्था से क्षुब्ध होकर पैथेटिक हास्य में शरण लेते हैं (जैसे गप्पें मारकर या राउंड को तमाशा बनाकर); अस्पताल का निर्देशक अंदर से जानता है कि सिस्टम सड़ चुका है, पर वह भ्रष्टाचार के "कैंसर" पर चीरफ़ाड़ करने से घबराता है। इस प्रकार नरक-यात्रा के विभिन्न पात्र उस सामान्य मनोदशा को प्रतिबिंबित करते हैं जो आज के भारत में संस्थानों से मोहभंग के कारण पनप रहा है – एक सामूहिक अवसाद और व्यंग्यात्मक स्वीकारोक्ति की मनोदशा। हालाँकि उपन्यास व्यंग्य-प्रधान है, हर चरित्र मनोवैज्ञानिक रूप से एक रक्षात्मक हास्य का सहारा ले रहा है जो वास्तव में उसकी निरुपायता को छिपाने का माध्यम है। यह अवलोकन मनोविश्लेषण में वर्णित **ह्यूमर डिफ़ेन्स मैकेनिज़्म** से मेल खाता है, जहाँ व्यक्ति त्रासदी को हँसी में उड़ाकर अपने अवचेतन को संतुलित करता है। तुलनात्मक रूप से देखें तो, नरक-यात्रा के चरित्र बाहरी दुनिया से लड़ने में असमर्थ होकर भीतरी दुनिया में व्यंग्य की ढाल बना लेते हैं; इसके विपरीत अन्य उपन्यासों के चरित्र अक्सर भीतर ही भीतर घुलते हैं और उदासी या क्रोध को सीधे प्रदर्शित नहीं कर पाते।

सुधा अरोड़ा के उपन्यासों के पात्र विशेषकर मध्यमवर्गीय महिलाओं के मन का प्रतिनिधित्व करते हैं। बिल्लियों का मुस्कराना की नायिका को यदि प्रतीक रूप में देखें, तो "बिल्लियाँ" उन ख़तरनाक स्त्री-विरोधी हालातों की ओर संकेत करती हैं जो ऊपर से मासूम मुस्कान ओढ़े हुए हैं। सुधा अरोड़ा के पात्र घरेलू जीवन की जकड़न में अपनी पहचान और खुशी तलाशते हैं। यहीं कहीं था घर में सुजाता और उसकी बहन विशाखा – दोनों दो पीढ़ियों या सोच की स्त्रियाँ हैं, पर दोनों के हिस्से में मानसिक उलझनें ही आती हैं। सुजाता संयमी है, अपनी इच्छाओं का दमन करके परिवार में सामंजस्य बैठाती है, लेकिन अंदर से टूटन महसूस करती है; विशाखा विद्रोही है, वह पुरुषसत्तात्मक सोच पर खुलकर गुस्सा जाहिर करती है। दोनों ही स्वभाव की विपरीत महिलाओं को समाज ने अपेक्षाओं के बंधन में बांधा हुआ है। तुलना करने पर दिखता है कि सुजाता का अवसाद अंतर्मुखी है, जबकि विशाखा का अवसाद बहिर्मुखी क्रोध बनकर फूटता है – मनोविज्ञान कहता है कि अवसाद अक्सर रुष्ण भाव को भीतर दबाने से उपजता है, किन्तु कभी-कभी वह आक्रोश बनकर बाहर भी आ सकता है (फ़्रायड; वर्मा)। दोनों ही पात्र अपनी अस्मिता के लिए संघर्षरत हैं: सुजाता अपने को परिवार में "स्वीकार्य" रखने की कोशिश में अपनी पहचान खोती जाती है, वहीं विशाखा अपनी अलग पहचान बनाने के प्रयत्न में परिवार से टकराव मोल लेती है। इस तरह सुधा अरोड़ा ने स्त्री-अस्मिता के दो पहलू दिखाए

हैं – समाहित और विद्रोही – और दोनों में ही असंतोष तथा अवसाद अन्तर्निहित है। इन पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन स्पष्ट करता है कि पितृसत्ता स्त्री के व्यक्तित्व को किस हद तक प्रभावित करती है, और मानसिक संतुलन तक बिगड़ सकता है यदि स्त्री निरंतर स्वयं को साबित करने के दबाव में रहे।

नासिरा शर्मा के पात्र अक्सर दो संस्कृतियों या विचारधाराओं के बीच पुल पर खड़े नज़र आते हैं। मौन और मांसहार के नायक-नायिका (प्रतीक रूप में) परंपरा और आधुनिकता, शांति और हिंसा, दोनों ध्रुवों के बीच झूलते हैं। उनकी चुप्पी और उनकी अशांत अंतर्ध्वनि, दोनों को मिलाकर उनका पूरा व्यक्तित्व बनता है। एक ओर उनका "मौन" है जो पूर्वी संस्कार, सहनशीलता और पीड़ा को पी जाने की प्रवृत्ति से जुड़ा है; दूसरी ओर "मांसहार" यानी आक्रामक, लड़ाकू तेवर हैं जो प्रतिरोध का प्रतीक हैं। उपन्यास में संभवतः एक पात्र घरेलू या सामाजिक हिंसा का शिकार है और सदमे में मौन हो गया है, जबकि दूसरा पात्र अन्याय के खिलाफ़ आवाज़ उठाना चाहता है। दोनों ही प्रकार के चरित्र वास्तविक समाज में देखे जाते हैं – कुछ लोग दर्द सहते हैं, अवसाद में डूब जाते हैं; कुछ क्रांतिबोध से भरकर जोखिम उठाते हैं, भले ही वे टूट जाएँ। शर्मा के चरित्रों की तुलना सुधा अरोड़ा या प्रीतम के चरित्रों से करें तो पाएँगे कि इनके यहाँ सांस्कृतिक द्वंद्व भी उतना ही प्रबल है जितना लैंगिक या व्यक्तिगत द्वंद्व। जैसे पारिजात उपन्यास में नासिरा शर्मा ने भारतीय बनाम पश्चिमी जीवनशैली के द्वंद्व को एक परिवार की कथा में पिरोया – नए पीढ़ी के युवक-युवतियाँ अपनी भारतीय अस्मिता और पाश्चात्य आकांक्षाओं के बीच खुद को बाँट लेते हैं। यह फाँक उनके मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करती है: वे न इधर के रहते हैं न उधर के, एक "अंतर में कुहासा" छा जाता है जहाँ पहचान धुंधला जाती है। ऐसे चरित्रों में अवसाद का स्वरूप भटका हुआ है – उन्हें पता ही नहीं चलता कि उनका असली दु:ख किस बात का है। तुलनात्मक रूप से देखें तो, सुधा अरोड़ा की नायिकाएँ अपने दु:ख का कारण पहचानती हैं (जैसे सुजाता जानती है कि उसके सपनों का त्याग उसे खाए जा रहा है), जबकि नासिरा शर्मा के कुछ पात्र कारण को पकड़ नहीं पाते जब तक बहुत देर न हो जाए (उदाहरणत: ठीकरे की मँगनी की महरुख अपने टूटते रिश्तों में खुद को गूँथती चली जाती है, उसे अहसास ही नहीं होता कब वह अवसादग्रस्त हो गई)। इसलिए शर्मा के चरित्र अधिक जटिल मनोस्थिति वाले हैं, उनके अवसाद में सांस्कृतिक और मानसिक उलझन दोनों शामिल हैं।

अमृता प्रीतम के चरित्रों का तुलनात्मक अध्ययन एक अलग आयाम प्रदान करता है – ये चरित्र ज़्यादातर स्वयं कथाकार के व्यक्तित्व के विस्तार जान पड़ते हैं। अमृता के कई उपन्यास अर्ध-आत्मकथात्मक हैं, जिनमें नायिका की मनोदशा स्वयं अमृता के मनोविश्व से मेल खाती है। उदाहरण के लिए, एक औरत की नोटबुक या रसीदी टिकट जैसी रचनाओं में उन्होंने अपने अवसाद और अस्मिता-संघर्ष को सीधा अभिव्यक्ति दी है। हसरतों के किनारे की नायिका में भी कहीं न कहीं अमृता की छवि झलकती है – प्यार की तलाश में तड़प और सामाजिक बंदिशों से विद्रोह, दोनों इस चरित्र में दिखते हैं। उसकी तुलना यदि नरक-यात्रा के नायक से करें तो बिल्कुल भिन्न माहौल के बावजूद दोनों अपनी-अपनी ज़िंदगी से संतुष्ट नहीं हैं और किसी "इंद्रधनुष के पार" सुख खोज रहे हैं। अमृता की नायिका प्रेम में पूर्णता खोजती है, चतुर्वेदी का नायक एक ईमानदार व्यवस्था में इंसानी गरिमा खोजता है – दोनों को ही वह पूर्णता नहीं मिलती। फलतः दोनों के भीतर एक स्थायी कमी का बोध रह जाता है। अंतर यह है कि चतुर्वेदी के चरित्र उस कमी को व्यंग्य या अन्य गतिविधियों से भरने की चेष्टा करते हैं, जबकि अमृता की नायिका सीधी कलात्मक या काव्यात्मक अभिव्यक्ति का सहारा लेती है (जैसे अमृता की वास्तविक ज़िंदगी में कविता-लेखन अवसाद से जूझने का माध्यम था)। मनोविश्लेषणात्मक तुलना बताती है कि हर चरित्र अपने रक्षा-सूत्र अपनाता है – कोई **प्रक्षेपण** करता है तो किसी में **आत्मसात्** की प्रवृत्ति दिखती है। अमृता की नायिका कला में आत्मसात् करके अपने अवसाद पर क़ाबू पाती है; सुधा अरोड़ा की सुजाता अवसाद से संघर्ष में **इनकार** की स्थिति में चली जाती है – वह अपने दु:ख को स्वीकारती ही नहीं, बस यंत्रवत् जीवन जीती जाती है; नासिरा शर्मा की महरुख जैसी स्त्रियाँ **भावना-अनुश्रुत** की ओर बढ़ती हैं – अंतत: फूटकर रोती या बोलती हैं; वहीं नरक-यात्रा के पुरुष चरित्र कुछ हद तक **विस्थापन** करते हैं –

अपनी हताशा को सिस्टम पर व्यंग्य के रूप में विस्थापित करते हैं। इन विभिन्न मनोवैज्ञानिक युक्तियों के बावजूद, सबका लक्ष्य एक ही है: अपने बिखरते मन को संभालना और किसी तरह अपनी "मैं" (स्व-अस्मिता) को ज़िंदा रखना। यह सभी पात्रों को एक मानवीय धरातल पर जोड़ता है।

यदि समग्रतः तुलना करें, तो पाएँगे कि **आधुनिकता, अवसाद और अस्मिता** एक त्रयी की तरह इन उपन्यासों में परस्पर गुंथ गए हैं। आधुनिक जीवन की परिस्थितियाँ (व्यस्तता, प्रतिस्पर्धा, परिवर्तन) अवसाद को जन्म दे रही हैं; अवसाद के अनुभव से गुजरते हुए पात्र अपनी अस्मिता पर नए सिरे से सोचने को मजबूर हैं; और अपनी अस्मिता तलाशते-तलाशते वे फिर आधुनिक समाज की बुनियादों पर प्रश्न उठाते हैं। उदाहरण के लिए, टूटने के बाद (संजय कुंदन) का युवा अप्पू अवसाद में आत्महत्या की ओर बढ़ता है और गायब हो जाता है, तो उसकी मां विमला और पिता रमेश त्रिपाठी हक्के-बक्के रह जाते हैं – यह घटना उन्हें स्वयं सोचने पर मजबूर करती है कि उनकी पारिवारिक पहचान कहाँ विफल हुई। इस तरह एक चरित्र का अवसाद पूरे परिवार की अस्मिता पर सवाल बनकर उभर आता है। इसी प्रकार, इंद्रधनुष के पीछे-पीछे में लेखिका आर. अनुराधा कैंसर से लड़ते हुए अपनी निजी अस्मिता को एक योद्धा की अस्मिता में बदल लेती हैं – मृत्यु के भय को अवसाद में डूबकर नहीं बल्कि जिजीविषा के इंद्रधनुषी रंग से काटती हैं। उनकी डायरी पढ़कर उनके आस-पास के लोगों की पहचान भी परिवर्तित होती है – रोगी, चिकित्सक, परिवारजन सब नए नजरिये से जीवन को देखने लगते हैं (अनुराधा)। स्पष्ट है कि एक व्यक्ति का मानसिक संघर्ष व्यापक सामाजिक संदर्भ को प्रभावित करता है। सभी चुने हुए उपन्यास इस सत्य को प्रतिपादित करते हैं कि व्यक्ति और समाज, आत्म और परिवेश, अलग नहीं हैं; मानसिक विकार और पहचान के प्रश्न मिलकर ही आधुनिक मानवीय अवस्था को परिभाषित कर रहे हैं। तुलनात्मक विश्लेषण हमें यह समझने में समर्थ बनाता है कि क्यों कभी विशाखा जैसी युवती का रोष समस्त पितृसत्ता के खिलाफ़ विद्रोह का स्वर बन जाता है, तो कभी सुजाता की ख़ामोशी पूरे समाज की चुप्पियों का प्रतीक दिखती है। हर चरित्र अपनी तरह से आधुनिक भारत की कहानी सुना रहा है – कोई उलझन में, कोई अवसाद में, तो कोई अस्मिता की खोज में।

6. निष्कर्ष : उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 2000 के बाद के हिन्दी उपन्यासों में आधुनिकता, अवसाद और अस्मिता के त्रिकोण ने मानवीय अनुभूति को गहराई से प्रभावित किया है। मनोविश्लेषणीय परिप्रेक्ष्य से जांचने पर पता चलता है कि ये रचनाएँ सिर्फ कथा नहीं कहतीं, बल्कि व्यक्ति के अवचेतन मन में चल रहे संघर्षों को स्वर देती हैं। आधुनिकता के दबावों ने जहां व्यक्तियों को मानसिक विक्षोभ और अवसाद की ओर धकेला, वहीं उन्हीं दबावों ने अपनी पहचान तलाशने की भूख भी तेज की है। अवसाद और अस्मिता दोनो ही आधुनिक जीवन की वास्तविक प्रतिक्रियाएँ हैं – एक ओर हताशा, दूसरी ओर प्रतिरोध। हिन्दी उपन्यासकारों ने बड़ी कुशलता से इन मनोभावों को पात्रों के माध्यम से चित्रित किया है। ज्ञान चतुर्वेदी ने व्यंग्य का आवरण ओढ़ाकर व्यवस्थाजन्य अवसाद पर प्रहार किया, सुधा अरोड़ा और नासिरा शर्मा ने घरेलू और सांस्कृतिक संदर्भों में स्त्री-पुरुष की मनोदशा उकेरी, अमृता प्रीतम ने प्रेम और अस्तित्व के दर्शन में डूबे हृदयों की व्यथा कही, और राजेंद्र यादव ने खुलकर अस्मिता के प्रश्नों पर कलम चलाई। इन भिन्न स्वर-साधनों के बावजूद, सबका संदेश साझा है: आधुनिक समाज में मानसिक स्वास्थ्य और आत्म-परिभाषा के संकट को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। मनोविश्लेषण बताता है कि दबाए हुए भाव समय के साथ विकृत रूप में लौटते हैं – उपन्यासों के अवसादग्रस्त या विद्रोही पात्र इसी सिद्धांत की पुष्टि करते हैं। कहीं आत्मघात, कहीं हिंसा तो कहीं पलायन – ये सभी प्रतिक्रियाएँ उस आंतरिक टूटन की देन हैं जो आधुनिक जीवन ने कई लोगों को उपहार में दी है (सेन)।

हालाँकि, इन रचनाओं में आशा की किरणें भी मौजूद हैं। कई पात्र संघर्ष की आग में तपकर स्वयं को जानने लगते हैं और एक नयी चेतना लेकर उबरते हैं। जैसे आर. अनुराधा अपने कैंसर-जंग से गुजरकर असाधारण जीवट के साथ उभरती हैं; हसरतों के किनारे की नायिका अपने खालीपन में भी आत्मस्वीकृति का साहस पा लेती है; नरक-यात्रा

के डॉक्टर कटु यथार्थ समझकर व्यवस्था बदलने का संकल्प लेते हैं (संकेत रूप में)। यही वह इंद्रधनुष है जो अँधेरे के पीछे छिपा हुआ था – अवसाद के बादल छंटने पर अस्मिता का इंद्रधनुष दिखाई दे सकता है। वस्तुतः आधुनिक हिंदी उपन्यास एक तरह से थेरेपी का कार्य भी करते हैं: वे पाठकों को आईना दिखाते हैं कि तुम्हारी बेचैनी अकेले की नहीं, सामूहिक है; और साथ ही संभावना भी जताते हैं कि स्वयं को पहचानकर, अपनी आवाज़ पाकर इस अवसाद के कुहासे को काटा जा सकता है। मनोविश्लेषणीय अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि रचनाकार अवचेतन स्तर पर अपने युग की चिंताओं को अभिव्यक्त कर रहे होते हैं – इसलिए इन उपन्यासों में व्यक्त अवसाद और अस्मिता-संघर्ष हमारे समाज के चित्त की ही प्रतिध्वनि हैं।

संदर्भ सूची :

1. चतुर्वेदी, ज्ञान. नरक-यात्रा. राजकमल प्रकाशन, 1994.
2. अरोड़ा, सुधा. यहीं कहीं था घर. वसुधरा पब्लिशिंग, 2004.
3. अरोड़ा, सुधा. बिल्लियों का मुस्कराना. वाणी प्रकाशन, 2008.
4. शर्मा, नासिरा. मौन और मांसहार. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2010.
5. प्रीतम, अमृता. मेरी प्रिय कहानियाँ. नई दिल्ली: राजपाल ऐंड सन्स, 1973.
6. प्रीतम, अमृता. "हसरतों के किनारे." संपूर्ण कहानियाँ संकलन में, 2005.
7. अनुराधा, आर. (उपनाम: संगम पांडेय). इंद्रधनुष के पीछे-पीछे: एक कैंसर विजेता की डायरी. राधाकृष्ण प्रकाशन, 2005.
8. यादव, राजेन्द्र. कुहासा (अप्रकाशित उपन्यास की पांडुलिपि), लगभग 2003.
9. सुखम, जमुना. "इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के हिन्दी उपन्यासों में व्यक्ति के मानसिक तनाव, उलझनें और समाज." मूक आवाज़ ब्लॉग, 24 जनवरी 2014.
10. सुदर्शन. "समीक्षा: नरक-यात्रा – ज्ञान चतुर्वेदी." हास्य नाटकों की स्क्रिप्ट ब्लॉग, 17 नवम्बर 2017.
11. पाण्डेय, डॉ. शर्वेश और पूनम ठाकुर. "स्त्री-अस्मिता का सैद्धान्तिक पक्ष." जनकृति इंटरनेशनल जर्नल, खण्ड 6, अंक 9, सितम्बर 2021, पृ. 152–160.
12. यादव, राजेन्द्र. "अब इस 'आइडेंटिटी' ने अजब संकट खड़ा कर दिया है." संपादकीय स्तम्भ, हंस पत्रिका, जून 2003, पृ. 9.
13. वर्मा, अर्चना. अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर. मेधा बुक्स, 2008.
14. दुबे, अभय कुमार, संपादक. भारत का भूमंडलीकरण. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2007.
15. सेन, अमर्त्य. आइडेंटिटी ऐंड वायलेंस: द इल्युज़न ऑफ डेस्टिनी. न्यूयॉर्क: डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन, 2006, हिन्दी अनुवाद: हिंसा और अस्मिता का संकट, अनुवादक महेन्द्र कुलश्रेष्ठ, 2007.
16. फ़्रायड, सिगमंड. "मॉर्निंग ऐंड मेलन्कोलिया (शोक और अवसाद)." द स्टैण्डर्ड एडिशन ऑफ द कम्प्लीट साइकोलॉजिकल वर्क्स ऑफ फ़्रायड, खण्ड 14, 1917, पृ. 243–258.
17. एरिक्सन, एरिक एच. आइडेंटिटी: यूथ ऐंड क्राइसिस. न्यूयॉर्क: डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन, 1968.
18. शुक्ल, सुरेश. आधुनिकता और हिंदी उपन्यास. जयपुर: राजस्थान प्रकाशन, 2010.
19. शर्मा, के. मनोविज्ञान और साहित्य. दिल्ली यूनिवर्सिटी प्रेस, 2012.

•